जैनदर्शन में तत्त्व-चिंतन

✡ डॉ० साध्वी धर्मशीला एम० ए०, पी-एच० डी०
[परमविदुषी स्व० महासतीजी श्री उज्ज्वलकुमारी जी की सुशिष्या]

भारतीय दर्शन में तत्त्व के सम्बन्ध में गहराई से विचार किया गया है। तत् शब्द से भाव अर्थ में 'त्व' प्रत्यय लगकर तत्त्व शब्द बना है। जिसका अर्थ है, उसका भाव—"**तस्य भावः तत्त्वम्**"। वस्तु के स्वरूप को तत्त्व कहा गया है।

किं तत्त्वम् ? तत्त्व क्या है ? जिज्ञासा का यही मूल है। दर्शन के क्षेत्र में चिंतन-मनन का आरंभ तत्त्व से ही होता है। चाहे आस्तिक दर्शन हो, चाहे नास्तिक दर्शन हो—सभी दार्शनिक चिन्तकों ने तत्त्व शब्द पर विचार किया है।

लौकिक दृष्टि से तत्त्व शब्द के अर्थ हैं—वास्तविक स्थिति, यथार्थता, सारवस्तु, सारांश। दार्शनिक चिंतकों ने तत्त्व शब्द के उक्त अर्थ को मानते हुए परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, पर-अपर, शुद्ध परम के लिए भी तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है।[1]

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में भी तत्त्व शब्द को महत्वपूर्ण माना गया है। दार्शनिक और वैज्ञानिक चिंतन का मूल केन्द्र तत्त्व शब्द द्वारा अभिधेय कोई न कोई वस्तु है।

तत्त्व एक शब्द है और प्रत्येक शब्द का प्रयोग निष्प्रयोजन नहीं होता है। उसका कुछ न कुछ अर्थ होता है। यह अर्थ वस्तु में विद्यमान किसी गुणधर्म या किसी न किसी क्रिया का ज्ञान कराता है। इसलिए शब्दशास्त्र की दृष्टि से तत्त्व शब्द का अर्थ है '**तद्भावस्तत्त्वम्**', '**तस्य भावः तत्त्वम्**'। अर्थात् जो पदार्थ जिस रूप में विद्यमान है, उसका उस रूप में होना, यही तत्त्व शब्द का अर्थ है।

शब्दशास्त्र के अनुसार प्रत्येक सद्भूत वस्तु को तत्त्व शब्द से संबोधित किया जाता है। जैनाचार्यों ने तत्त्व शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि तत्त्व का लक्षण सत् है अथवा सत् ही तत्त्व है। इसलिये वह स्वभाव से सिद्ध है।[2]

वैदिकदर्शन ने परमात्मा तथा ब्रह्म के लिए तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है। सांख्यदर्शन ने जगत् के मूल कारण के रूप में तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है। बौद्धदर्शन में स्कंध, आयतन, धातु इन तीनों को तत्त्व माना है। न्यायदर्शन ने प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, आदि सोलह तत्त्वों को ज्ञानमुक्ति का कारण माना है। चार्वाकदर्शन में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच भूतों को तत्त्व कहा है। वैशेषिकदर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह को तत्त्व माना है। सांख्यदर्शन में पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार आदि पच्चीस तत्त्व माने हैं। मीमांसादर्शन ने दो तत्त्व माने हैं।

सभी दर्शनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से तत्त्व का विवेचन किया है। सभी का मन्तव्य है कि जीवन में तत्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन और तत्त्व ये एक-दूसरे से संबंधित हैं। तत्त्व से जीवन को कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता।

समस्त भारतीय दर्शन तत्त्व के आधार पर ही खड़े हैं। हमें यहाँ पर सिर्फ 'जैनदर्शन में तत्त्व-चिंतन' इस पर ही विचार करना है। जैनदर्शन में लोक-व्यवस्था का मूल आधार 'तत्त्व' माना है। जैन दार्शनिकों ने तत्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का उपरोक्त अर्थ ही स्वीकार किया है और कहा है कि 'तत्त्व का लक्षण सत् है। यह सत् स्वयंसिद्ध है। सत् की न आदि है, न अन्त है। वह तीनों कालों में स्थित रहता है।'

जैनदर्शन में विभिन्न स्थलों पर सत्, सत्त्व, तत्त्व, तत्त्वार्थ, अर्थ, पदार्थ और द्रव्य इन शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है। जो सत् है, वही द्रव्य है, और जो द्रव्य है, वही सत् है।[3]

स्वरूप की प्राप्ति ही जीव मात्र का एकमात्र लक्ष्य है, एकमात्र साध्य है, इसलिए स्वरूप साधना की दृष्टि से सर्वप्रथम चैतन्य और जड़ का भेदविज्ञान आवश्यक है। इसके साथ ही चैतन्य और जड़ के संयोग-वियोग का परिज्ञान होना जरूरी है। अतः साधक को आत्मा की शुद्ध एवं अशुद्ध अवस्था के कारणों का परिज्ञान होना आवश्यक है। वे कारण, जो कि साधना के हेतु हैं, तत्त्व कहे जाते हैं। यही दृष्टि जैन तत्त्वज्ञान की आधारशिला है।

जीव अन्य है और पुद्गल अन्य है। यही वास्तव में तत्त्वसंग्रह है। **जीवोन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः** इस प्रकार का भेदविज्ञान होना आवश्यक है।

तत्त्व का लक्षण ज्ञात होने पर यह प्रश्न होता है कि जैनदर्शन में तत्त्व किसे कहा है ? उनकी संख्या कितनी है ? इस प्रश्न का उत्तर आध्यात्मिक और दार्शनिक दृष्टि से विभिन्न ग्रंथों में विभिन्न शैली से दिया गया है।

आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा ही मुख्य तत्त्व है। आत्मा के दो भेद हैं—(१) संसारी और (२) मुक्त। इन दो प्रकारों के अतिरिक्त अन्य सब जड़ पदार्थ हैं। संक्षेप और विस्तार की दृष्टि से तत्त्व के प्रतिपादन की मुख्यतः तीन शैलियाँ हैं—

प्रथम शैली के अनुसार तत्त्व दो हैं—
(१) जीव, (२) अजीव।
द्वितीय शैली के अनुसार तत्त्व सात हैं—
(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बंध, (५) संवर, (६) निर्जरा, (७) मोक्ष।
तृतीय शैली के अनुसार तत्त्व नौ हैं—
(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्रव, (६) संवर, (७) निर्जरा, (८) बंध, (९) मोक्ष।

दार्शनिक ग्रन्थों में प्रथम और द्वितीय शैली मिलती है। तृतीय शैली प्राचीन आगम ग्रंथों के अनुसार है। जीव से लेकर मोक्ष तक नौ तत्त्व कहने की शैली आगम ग्रन्थों में इस प्रकार है।

भगवतीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र आदि में तत्त्वों की गिनती नौ है। पुण्य और पाप तत्त्वों को आस्रव या बंध तत्त्व में सामावेश कर लेने पर सात तत्त्व कहलाते हैं और पुण्य-पाप को आस्रव और बंध से अलग करके कहने से नौ पदार्थ कहलाते हैं। इसलिए आगम तथा तत्संबंधी ग्रन्थों में 'नवतत्त्व' या नव पदार्थ के नाम से तत्त्व की संख्या बतलायी है और उनका विवेचन किया गया है।

उक्त जीवादि सात अथवा नौ तत्त्वों में से जीव और अजीव ये दो तत्त्व तो धर्मी हैं अर्थात् आस्रवादि अन्य तत्त्वों के आधार हैं और शेष आस्रवादि उनके धर्म हैं। दूसरे रूप में इनका वर्गीकरण करें तो जीव और अजीव ज्ञेय (जानने योग्य) हैं, संवर, निर्जरा, मोक्ष उपादेय (ग्रहण करने के योग्य) और शेष आस्रव, बंध, पुण्य, पाप हेय (त्याग करने योग्य) हैं। उक्त तत्त्वों का संक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है—

जीवः—नव तत्त्वों में सबसे पहला तत्त्व जीव है। 'उपयोग' यह जीव का लक्षण है।[4] आगम में उपयोग के दो भेद हैं—(१) साकार उपयोग (ज्ञान) और (२) निराकार उपयोग (दर्शन)। जिसमें ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग पाया जाता है, वह 'जीव' है। ज्ञान अर्थात् जानना और दर्शन अर्थात् देखना। शुद्ध चैतन्य यह जीव का स्वभाव है। जीव अनन्त हैं। सांख्य के पुरुष, वैष्णव और वेदान्तियों की आत्मा और लाइबनीत्स के चिदाणुओं के समान जीवों की अनन्तता केवल संख्यात्मक ही है, गुणात्मक नहीं। गुणात्मक दृष्टि से सब जीव समान हैं। जीव स्वयं ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है। जीव किसी पारलौकिक शक्ति के नियंत्रण में नहीं है। अपनी नियति का निर्माता वह स्वयं है। स्वयं की क्रियाओं के कारण वह बंधन में पड़ता है और स्वयं के प्रयत्नों से ही मुक्त होता है।

जीव का शरीर के साथ तादात्म्य है, क्योंकि, वह शरीर के दुःखों से दुःखी होता है, परन्तु वह शरीर से भिन्न नहीं है, क्योंकि, शरीर के नाश के साथ उसका नाश नहीं होता है। जीव न कूटस्थ नित्य है और न एकान्त क्षणिक ही है। किन्तु अन्य द्रव्य की भाँति परिणामीनित्य है। कर्मोपाधि से मुक्त हो जाने के कारण मुक्त जीवों के कोई भेद-प्रभेद नहीं हैं, किन्तु कर्म सहित होने से संसारी जीवों के मुख्य दो भेद हैं—(१) त्रस और (२) स्थावर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रस जीवों को उनकी इन्द्रियों के आधार पर चार भागों में बाँटा गया है—(१) बेइन्द्रिय (२) तेइन्द्रिय (४) चउरिन्द्रिय (४) पंचेन्द्रिय। मनुष्य, देव तथा नारक त्रस माने जाते हैं। इस प्रकार संसारी जीवों के ४ भेद हैं—(१) नारक (२) तिर्यंच, (३) मनुष्य, (४) देव। इन संसारी जीवों में सामान्यत: देव सौधर्म विमान से लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यंत ऊर्ध्वलोक में, मनुष्य और तिर्यंच मध्यलोक में और नारक रत्नप्रभादि अधोलोक में निवास करते हैं। देवों और नारकों के उनके निवास-स्थान की अपेक्षा से और भी अनेक भेद हैं, जिनका विस्तृत विवेचन अन्य दूसरे ग्रन्थों में किया गया है।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में से द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव अपने हित के लिए हलन-चलन कर सकते हैं, अत: उन्हें 'त्रस' कहा जाता है। एकेन्द्रिय जीव अपने हिताहित के लिए हलन-चलन नहीं कर सकते, इसलिए उन्हें 'स्थावर' कहते हैं।

एकेन्द्रिय जीव में भी सजीवता बताने के लिए भगवान महावीर ने मानव शरीर के साथ वनस्पति की तुलना की है और बताया है कि, मनुष्य की तरह वनस्पति भी बाल, युवा और वृद्धावस्थाओं का उपभोग करती है। वृक्ष भी मनुष्य की तरह सुख-दु:ख के अनुभव करते हैं। मनुष्य की तरह उन्हें भी भूख प्यास लगती है। वे भी मनुष्य की तरह बढ़ते हैं और सूखते हैं। आयुष्य पूर्ण हो जाने पर वृक्ष भी मनुष्य की तरह मरते हैं, इसलिए वे सजीव हैं। वनस्पति की तरह पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में भी वही समझना चाहिए।

भगवान महावीर ने हजारों वर्षों पूर्व वनस्पति में जीव है, इस तथ्य का निरूपण कर दिया था। आज के विज्ञान युग में वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ० जगदीशचन्द्र बसु ने इसे सिद्ध कर दिया है।

जीव ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि उत्तमोत्तम गुणों का धाम होने से नव तत्त्वों में सर्वोत्तम, सर्वप्रधान माना गया है। वह कर्म का कर्ता एवं भोक्ता है, इसलिए उसे सर्वप्रथम स्थान दिया गया है।

अजीव—जीव तत्त्व का प्रतिपक्षी अजीव तत्त्व है।[६] अर्थात् जीव के विपरीत अजीव है। जिसमें चेतना नहीं है, जो सुख-दु:ख की अनुभूति भी नहीं कर सकता है, वह अजीव है। अजीव को जड़, अचेतन भी कहते हैं। जगत के समस्त जड़-पदार्थ ईंट, चूना, चाँदी, सोना आदि भौतिक-मूर्त तथा आकाश, काल आदि जो अमूर्त-जड़ पदार्थ हैं, वे सब अजीव हैं।

अजीव तत्त्व के भेद—अजीव के पाँच भेद हैं—(१) पुद्गल, (२) धर्म, (३) अधर्म, (४) आकाश और (५) काल।

उक्त पाँच भेदों में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल[७] अमूर्त हैं और पुद्गल मूर्त है। अमूर्त के लिए आगमों में 'अरूपी' तथा मूर्त के लिए 'रूपी' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श न हों, जो आँखों से दिखाई न दे, उसे 'अरूपी' कहते हैं। जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श है तथा जिसके अनेक आकार-प्रकार बन सकें उसे 'रूपी' कहते हैं।

धर्म—यह गति सहायक तत्त्व है। जिस प्रकार मछली को गमन करने में पानी सहकारी निमित्त है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल द्रव्य को धर्म द्रव्य गमन करने में सहकारी कारण माना गया है।[८]

अधर्म—यह स्थिति सहायक तत्त्व है। जीव और पुद्गलों को ठहराने में उसी प्रकार सहायक है जैसे वृक्ष की शीतल छाया पथिक को ठहराने में सहायक है।

यह धर्म और अधर्म द्रव्य जीव पुद्गल द्रव्यों को न तो जबरदस्ती चलाते हैं और न ठहराते हैं। किन्तु विभिन्न रूप से उनके लिए सहायक बन जाते हैं।[९]

आकाश—जो सब द्रव्य को अवकाश देता है, वह आकाश है। अर्थात् जीवादि सब द्रव्य आकाश में ठहरे हुए हैं। आकाश के दो भेद हैं—(१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश। जितने क्षेत्र में जीवादि द्रव्य रहते हैं, वह लोकाकाश है। शेष सब अलोकाकाश है।

काल—जो द्रव्यों की नवीन, पुरातन आदि अवस्था को बदलने में निमित्त रूप से सहायता करता है, वह काल द्रव्य है। घड़ी, घंटा, मिनट, समय आदि सब काल की पर्यायें हैं।

पुद्गल—विज्ञान ने जिसे (Matter) मेटर, न्याय-वैशेषिकदर्शन ने जिसे भौतिक तत्त्व, बौद्धदर्शन ने जिसे आलयविज्ञान-चेतना-संतति, सांख्यदर्शन ने जिसे प्रकृति कहा है, उसे ही जैनदर्शन ने पुद्गल कहा है। जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण हों, उसे 'पुद्गल' कहते हैं।[१०]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'पुद्गल' यह 'पुद्' और 'गल' इन दो शब्दों से बना है। पुद् का अर्थ है, पूरा होना या मिलना और गल का अर्थ है, गलना या मिटना। जो द्रव्य प्रतिक्षण बनता तथा बिगड़ता है, उसे 'पुद्गल' कहते हैं।[११]

'पुद्गल' के उस सूक्ष्म अंश को 'परमाणु' (परम+अणु) कहते हैं, जिसका दूसरा विभाग न हो सकता हो।[१२] स्कन्ध, परमाणु, अन्धकार, छाया, प्रकाश, शब्द आदि सभी पुद्गल की अवस्थाएँ (पर्यायें) हैं। अर्थात् ये सब पुद्गल के रूप हैं। जैन आगम साहित्य में भी अभेदोपचार से पुद्गलयुक्त आत्मा को पुद्गल कहा है।[१३]

जैन आगम साहित्य में परमाणुओं के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गई है। आगम साहित्य का बहुभाग परमाणु की चर्चा से सम्बन्धित है। विज्ञान ने भी परमाणु के विषय में बहुत खोज की है। संसारी दशा में पुद्गल और जीव का सम्बन्ध अविच्छेद्य है।

पुण्य और पाप तत्त्व—जो आत्मा को पवित्र करता है वह पुण्य है और जो आत्मा को अपवित्र करता है वह पाप है याने शुभकर्म पुण्य है और अशुभ कर्म पाप है।[१४]

धर्म की प्राप्ति, सम्यक् श्रद्धा, सामर्थ्य, संयम और मनुष्यता का विकास भी पुण्य से ही होता है। तीर्थंकर नामकर्म पुण्य का ही फल है। पुण्य मोक्षार्थियों की नौका के लिये अनुकूल वायु है, जो नौका को भवसागर से शीघ्रतम पार कर देती है। आरोग्य, सम्पत्ति आदि सुखद पदार्थों की प्राप्ति पुण्य कर्म के प्रभाव से ही होती है।

आत्मा की वृत्तियाँ अगणित हैं, इसलिए पुण्य-पाप के कारण भी अगणित हैं। प्रत्येक प्रवृत्ति यदि शुभ रूप है तो पुण्य का, अशुभ रूप है तो पाप का कारण बनती है। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से उनमें से कुछ एक कारणों का संकेत यहाँ किया जा रहा है।

पुण्य और पाप तत्त्व के भेद—शुभ कर्मों को तथा उदय में आये हुए शुभ पुद्गलों को पुण्य कहते हैं। पुण्य के कारण अनेक हैं। संक्षेप में दीन-दुखी पर करुणा करना, उनकी सेवा करना, गुणीजनों पर प्रमोद भाव रखना, दान देना, परोपकार करना इत्यादि अनेक भेद किये जा सकते हैं। पुण्योपार्जन के नौ कारण आगमों में बताये हैं। अतः शास्त्रीय दृष्टि से पुण्य के नौ भेद इस प्रकार हैं—

(१) अन्न पुण्य, (२) पान पुण्य, (३) लयन (स्थान) पुण्य, (४) शयन (शय्या) पुण्य, (५) वस्त्र पुण्य, (६) मन पुण्य, (७) वचन पुण्य, (८) काय पुण्य (९) नमस्कार पुण्य। अर्थात् अन्न, जल, औषधि आदि का दान करना, ठहरने के लिए स्थान आदि देना तथा मन से शुभ भावना रखना, वचन से निर्दोष शब्द बोलना, शरीर से शुभकार्य करना एवं देव, गुरु, धर्म को नमस्कार करना। ये सब पुण्य के कारण हैं।[१५]

अशुभ कर्म और उदय में आये हुए अशुभ कर्म पुद्गल को पाप कहते हैं। पाप के कारण भी असंख्य हैं, फिर भी संक्षेप में पाप उपार्जन के निम्नलिखित अठारह कारण माने जाते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) हिंसा, (२), झूठ, (३) चोरी, (४) अब्रह्मचर्य, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान (झूठा आरोप लगाना, दोषारोपण करना), (१४) पैशुण्य (चुगली), १५) परनिन्दा, (१६) रति-अरति (पाप में रुचि और धर्म में अरुचि),[१६] (१७) माया-मृषावाद (कपट सहित झूठ बोलना) और (१८) मिथ्यादर्शन।

अध्यात्म की दृष्टि से पुण्य और पाप दोनों बन्धन रूप हैं। अतः मोक्ष-साधना के लिये दोनों हेय माने गये हैं। पुण्य को सोने की बेड़ी कहा गया है और पाप को लोहे की बेड़ी माना गया है। मोक्ष के लिए दोनों ही त्याज्य माने गये हैं। परन्तु पहले पाप छोड़ना चाहिए, बाद में पुण्य। पूर्ण मुक्त होने के लिए और शुद्ध वीतराग भाव प्राप्त करने के लिए पुण्य और पाप से मुक्त होना होगा।

आस्रव—पुण्य-पाप, रूप कर्मों के आने के द्वार 'आस्रव' कहते हैं। आस्रव द्वारा ही आत्मा कर्मों को ग्रहण करती है। मन, वचन, काया के क्रियारूप योग आस्रव है।[१७] जैसे एक तालाब है, उसमें नाली से आकर जल भरता है। उसी प्रकार आत्मारूपी तालाब में हिंसा, झूठ आदि पाप कार्यरूप नाली द्वारा कर्मरूप जल भरता रहता है यानि कि आत्मा में कर्म के आने का मार्ग आस्रव है।

आत्मा में कर्म के आने के द्वार रूप आस्रव के पाँच भेद हैं—

(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय, (५) योग।

मिथ्यात्व—विपरीत श्रद्धा। अधर्म में धर्मबुद्धि, अतत्त्व में तत्त्व-बुद्धि आदि मिथ्यात्व है।

अविरति—त्याग के प्रति अनुत्साह और भोग में उत्साह अविरति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाद—आत्मकल्याण तथा सत्कर्म में उत्साह न होना, आलस्य करना प्रमाद है।

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की वृत्ति।

योग—मन, वचन, काया की शुभाशुभ प्रवृत्ति।

अध्यात्म-साधना के लिए यह आवश्यक है कि आत्म-विकास में बाधक तत्त्व के स्वरूप का परिज्ञान करके उससे मुक्त होने का प्रयत्न करे। आस्रव जीव का विभाव में रमण करने का कारण होता है। इसलिए विभाव और स्वभाव को समझकर स्वभाव में स्थित होना ही आस्रव एवं संसार से मुक्त होना है।

संवर—कर्म आने के द्वार को रोकना संवर है। संवर आस्रव का विरोधी तत्त्व है। आस्रव कर्मरूप जल के आने की नाली के समान हैं और उसी नाली को रोककर कर्मरूप जल के आने का रास्ता बन्द कर देना संवर का कार्य है।

संवर आस्रवनिरोध की क्रिया है।[१८] उससे नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता। संवर के द्रव्यसंवर और भावसंवर ये दो भेद हैं।[१९] इनमें कर्म पुद्गल के ग्रहण का छेदन या निरोध करना द्रव्यसंवर है और संसार वृद्धि में कारणभूत क्रियाओं का त्याग करना, आत्मा का शुद्धोपयोग अर्थात् समिति, गुप्ति आदि भावसंवर है।

संवर तत्त्व के भेद—संवर की सिद्धि गुप्ति, समिति, धर्म-अनुप्रेक्षा, परिषह जय और चारित्र से होती है। संवर के मुख्य पाँच भेद हैं।

सम्यक्त्व—जीवादि तत्त्व का यथार्थ श्रद्धान करना और विपरीत मान्यता से मुक्त होना।

व्रत—१८ प्रकार के पापों का सर्वथा त्याग करना।

अप्रमाद—धर्म के प्रति उत्साह होना।

अकषाय—क्रोधादि कषायों का क्षय या उपशम हो जाना।

योग—मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का निरोध करना।

ये पाँच आस्रव के विरोधी भेद हैं। मुख्यतया संवर के सम्यक्त्व आदि पाँच भेद तथा विस्तार से बीस भेद और सत्तावन भेद माने गये हैं।

निर्जरा—संवर नवीन आने वाले कर्मों का निरोध है, परन्तु अकेला संवर मुक्ति के लिये पर्याप्त नहीं। नौका में छिद्रों द्वारा पानी का आना 'आस्रव' है। छिद्र बन्द करके पानी रोक देना 'संवर' समझिए। परन्तु जो पानी आ चुका है, उसका क्या हो? उसे तो धीरे-धीरे उलीचना ही पड़ेगा। बस, यही 'निर्जरा' है। निर्जरा का अर्थ है—जर्जरित कर देना, झाड़ देना, पूर्वबद्ध कर्मों को झाड़ देना, पृथक् कर देना 'निर्जरा' तत्त्व है।

निर्जरा शुद्धता की प्राप्ति के मार्ग में सीढ़ियों के समान है। सीढ़ियों पर क्रम-क्रम से कदम रखने पर मंजिल पर पहुँचा जाता है। वैसे ही निर्जरा भी कर्मक्षय के लिए सहायक बनती है।

निर्जरा तत्त्व के भेद—आत्मा के ऊपर जो कर्म का आवरण है, उसे तप आदि के द्वारा क्षय किया जाता है। कर्मक्षय का हेतु होने से तप को भी निर्जरा कहते हैं। तप के बारह भेद होने से निर्जरा के बारह भेद निम्न प्रकार से होते हैं।

(१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचरी, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) प्रतिसंलीनता, (७) प्रायश्चित्त, (८) विनय, (९) वैयावृत्य, (१०) स्वाध्याय, (११) ध्यान, (१२) व्युत्सर्ग। इसमें पहले छह तप बाह्य तप हैं और शेष छह तप आभ्यंतर तप हैं। बाह्यतप व्यवहार में प्रत्यक्ष दिखलाई देता है। और आभ्यंतर तप भले ही प्रत्यक्ष दिखाई न दें, किन्तु इन बाह्य व आभ्यंतर तपों का कर्मक्षय और आत्मशुद्धि की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है।[२०]

बंध—आत्मा के साथ, दूध-पानी की भाँति कर्मों का मिल जाना बन्ध कहलाता है। बन्ध एक वस्तु का नहीं होता, दो वस्तुओं का सम्बन्ध होता है उसे बन्ध कहते हैं।

कषायिक परिणामों से कर्म के योग्य पुद्गलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना बंध कहलाता है। जीव अपने कषायिक परिणामों से अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गलों का बंध करता रहता है। आत्मा और कर्मों का यह बन्ध दूध और पानी, अग्नि और लोहपिंड जैसा है। जैसे दूध और पानी, अग्नि और लोहपिंड अलग-अलग हैं, फिर भी एक दूसरे के संयोग से एकमेक दिखते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधतत्त्व के चार भेद—

(१) प्रकृतिबन्ध—कर्म के स्वभाव का निश्चित होना।
(२) स्थिति—कर्मबन्ध का काल निश्चित होना।
(३) अनुभाग—कर्म के फल देने की तीव्रता या मंदता निश्चित होना।
(४) प्रदेश—कर्म पुद्गल शक्ति का स्वभावानुसार अमुक-अमुक परिणाम में बँट जाना प्रदेश बन्ध है।[21]

बन्ध के शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकार भी हैं। शुभबन्ध को पुण्य और अशुभबन्ध को पाप कहते हैं। प्रकृति बन्ध के आठ भेद हैं—

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय।[22]

इनमें से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आवृत करने से घाति कहलाते हैं और शेष वेदनीय, आयुः, नाम, गोत्र आत्मा के स्वाभाविक गुणों को आवृत न करके उसको संसार में टिकाये रखने के कारण अघाति कहलाते हैं। कर्मों के फल देने से पूर्व की स्थिति का नाम बन्ध है। कर्म का अनुदय काल बन्ध है। उदयकाल पुण्य-पाप है।

मोक्ष—नवतत्त्व में अन्तिम तत्त्व मोक्षतत्त्व है। मोक्ष ही जीवमात्र का चरम और परम लक्ष्य है। मोक्ष का सीधा अर्थ है, समस्त कर्मों से मुक्ति और 'राग द्वेष का संपूर्ण क्षय'।[23]

बन्ध के कारण और संचित कर्मों का पूर्णरूप से क्षय हो जाना मोक्ष है। कर्म बन्धन से मुक्ति मिली कि जन्म-मरण रूप महान् दुःखों के चक्र की गति रुक गई। सदासर्वदा के लिए सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप की प्राप्ति हो गई।

तात्त्विक दृष्टि से कहा जाये तो आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में सदा के लिए स्थिर हो जाना ही मोक्ष या मुक्ति है। जब साधक राग-द्वेष एवं पर-पदार्थों की आसक्ति को क्षय करके वीतराग भाव की शुद्ध-विशुद्ध पर्याय को प्रकट कर लेता है, तब वह बन्ध से मुक्त हो जाता है। यथार्थ में राग-द्वेष से मुक्त होना ही मुक्ति है।

मुक्तात्मा अनन्त गुणों से परिपूर्ण हो जाता है। मोक्ष या मुक्ति कोई स्थान विशेष नहीं है, किन्तु आत्मा को शुद्ध, चिन्मय स्वरूप की प्राप्ति ही मुक्ति है। मोक्ष का सुख अनिर्वचनीय है, अनुपमेय है। आत्मा का आवरणरहित निर्लेप हो जाना मोक्ष है।

मोक्षावस्था में आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। और सचमुच देखा जाय तो आत्मा ही परमात्मा है—**"अप्पा सो परमप्पा"** इस अवस्था में आत्मा अपने मूल स्वभाव में आ जाता है, इसलिए उसका नाश नहीं होता और नाश नहीं होता इसलिए आत्मा का पुनः संसार में आना भी नहीं होता।

मोक्ष प्राप्ति के चार उपाय हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप। ज्ञान से तत्त्वों की जानकारी और दर्शन से तत्वों पर श्रद्धा होती है। चारित्र्य से आते हुए कर्मों को रोका जाता है और तप द्वारा आत्मा से बँधे हुए कर्मों का क्षय होता है। इन चार उपायों से कोई भी जीव मोक्ष पा सकता है। इसकी साधना के लिए जाति, कुल, वेश आदि कोई भी कारण नहीं है, किन्तु जिसने भी कर्मबन्धन को तोड़कर आत्मगुणों को प्रकट कर लिया, वही मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी है। जैनदर्शन में गुणों का महत्त्व है, व्यक्ति, जाति, लिंग, कुल, संप्रदाय आदि का नहीं।

मोक्ष के मार्ग—मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अनिवार्य आवश्यकता है। संसार के विविध तापों से मुक्त होने के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रत्नत्रय की अत्यन्त आवश्यकता है। ये मोक्ष मार्ग हैं।

तत्त्व के यथार्थ विवेक की अभिरुचि यही सम्यग्दर्शन है।[24] नय और प्रमाण से होने वाला जीव आदि तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक काषायिक भाव अर्थात् राग, द्वेष और योग की निवृत्ति होकर जो स्वरूप-रमण होता है वही सम्यक्चारित्र है। आत्मा में प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट होने पर सम्यग्दर्शन का अस्तित्व सिद्ध होता है। रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन का अत्यन्त महत्व है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मूल सम्यक्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन बीज है। सम्यग्दर्शन के होने पर ही साधना रूपी वृक्ष पर ज्ञान का फूल सुगन्धित और चारित्र्य का फल मधुर बन सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शन यह साधना रूपी भव्य महल की नींव है। नींव मजबूत होगी तो ही ज्ञान और चारित्र रूपी साधना महल टिक सकेगा। उमास्वाति के शब्दों में कहे तो तत्त्वरूप पदार्थ की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।

आत्म-तत्त्व की पहचान करना याने (Right Knowledge) सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान याने आत्मज्ञान। आत्मज्ञान प्राप्त करना यही सच्चा मोक्ष मार्ग है। ज्ञान यह आत्मा का निजगुण है। जो आत्मा है वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वह आत्मा है।[२५]

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीन दोष से रहित, नय और प्रमाण से होने वाले जीवादि पदार्थ का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल ये पाँच ज्ञान हैं।[२६]

आत्म-स्वरूप में रमण करना, जिनेश्वर देव के वचन पर पूर्ण श्रद्धा रखना और वैसा ही आचरण करना (Right Conduct) सम्यक्चारित्र है। आत्मा को शुद्ध रखना और पाप से दूर रहना यही सम्यक्चारित्र है। चारित्र के दो भेद हैं—(१) सराग चारित्र (२) वीतराग चारित्र।

हिन्दू शास्त्र में आत्मा को सत्-चित्-आनन्दमय कहा है तो जैनधर्म में आत्मा को दर्शन, ज्ञान, चारित्रमय कहा है। बात एक ही है, सिर्फ शब्दान्तर है।

सम्यक् चारित्र का आचरण करने वाला जीव शुद्ध और ज्ञानी बनकर निर्वाण पंथ की ओर जाता है और वह धीर-वीर पुरुष अक्षय, अनन्त, अव्यय मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीनों साधन जब परिपूर्ण रूप में प्राप्त होते हैं, तभी सम्पूर्ण मोक्ष सम्भव है अन्यथा नहीं। एक भी साधन जब तक अपूर्ण रहेगा तब तक परिपूर्ण मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

चार्वाक्दर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शनों का मोक्ष के विषय में एक मत है। चार्वाक का मन्तव्य है कि शरीर का अन्त होना ही मोक्ष है। न्यायवैशेषिकदर्शन ने दुःखों की अत्यधिक निवृत्ति को मोक्ष कहा है। न्याय-वार्तिककार ने सभी दुःखों के आत्यन्तिक अभाव को मोक्ष माना है। वे मानते हैं कि मोक्ष में बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, संकल्प, पुण्य-पाप, तथा पूर्वानुभव के संस्कार इन नौ गुणों का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है।[२७]

बौद्धदर्शन ने मोक्ष को निर्वाण कहा है। बुद्ध के मतानुसार जीवन का चरम-लक्ष्य दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति अथवा निर्वाण है। निर्वाण बौद्ध-दर्शन का महत्वपूर्ण शब्द है।

सामान्य रूप से भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय, कर्म, ज्ञान, भक्ति और पातंजलि योग को कम-अधिक परिमाण में मोक्ष के साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। मीमांसकदर्शन केवल कर्म (यज्ञ-भजनादि) से ही मोक्ष प्राप्ति हो सकती है, ऐसा मानते हैं। वैष्णव, वेदान्ती के अनुसार ईश्वर की भक्ति ही मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन है। सांख्य योग के मन्तव्यानुसार कैवल्य प्राप्ति के लिए योगाभ्यास ही अनिवार्य है।

जैनदर्शन एक आध्यात्मिक दर्शन है। जैनदर्शन की मान्यता है कि मुक्त जीव अशरीरी होते हैं। गति, शरीरसापेक्ष हैं, इसलिए वे गतिशील नहीं होते। मुक्त दशा में आत्मा का किसी दूसरी शक्ति में विलय नहीं होता। मुक्त जीवों की विकास की स्थिति में भेद नहीं होता किन्तु उनकी सत्ता स्वतन्त्र होती है। सत्ता का स्वातन्त्र्य मोक्ष की स्थिति का बाधक नहीं है। अविकास या स्वरूपावरण उपाधिजन्य होता है। इसलिए कर्म उपाधि मिटते ही वह मिट जाता है। सब मुक्त आत्माओं का विकास और स्वरूप समकोटिक हो जाता है। आत्मा की जो पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है, वह उपाधिकृत नहीं हैं, वह सहज है, इसलिए किसी भी स्थिति में उनकी स्वतन्त्रता पर कोई आँच नहीं आती। आत्मा अपने आप में पूर्ण अवयवी है, इसलिए उसे दूसरों पर आश्रित रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

मुक्त दशा में आत्मा समस्त वैभाविक आधेयों, औपाधिक विशेषताओं से विरहित हो जाती है। मुक्त होने पर पुनरावर्तन नहीं होता। उस (पुनरावर्तन) का हेतु कर्म-चक्र है। उसके रहते हुए मुक्ति नहीं होती। कर्म का निर्मूल नाश होने पर फिर उसका बन्ध नहीं होता। कर्म का लेप सकर्म के होता है। अकर्म कर्म से लिप्त नहीं होता।

जैनदर्शन की नव तत्त्व की तात्त्विक व्यवस्था मोक्षमार्ग-परक है याने जीव को कर्मबन्धन से मुक्त होने का पुरुषार्थ करने और मोक्ष पाप्त करने के लिए प्रेरित करती है। इस दृष्टि से इन जीवादि नौ तत्त्वों में से प्रथम जीव अजीव ये दो तत्त्व मूल द्रव्य के वाचक हैं। आस्रव, पुण्य, पाप और बंध ये चार तत्त्व संसार और उसके कारण राग-द्वेषादि का निर्देश कर मुमुक्षु को जागृत करने के लिए है तथा संवर और निर्जरा ये दो तत्त्व संसार-मुक्ति की साधना का विवेचन करते हैं। अन्तिम मोक्ष तत्त्व साधना के फल-परिणाम का संकेत करता है कि जीव स्वयं अपने स्वभाव को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकट कर और उसी में रमण करते हुए आत्मा से परमात्मा बन जाता है। उस परमात्मा पद की साधना और उसका स्वरूप समझने के लिए ही जैन विचारकों ने तत्त्वज्ञान का यह विस्तार किया है। आत्मा का आत्मा में अवस्थित हो जाने के बाद अन्य कुछ भी करना शेष नहीं रहता है। संक्षेप में तत्त्वज्ञान का उद्देश्य है—**'बन्धप्पमोक्खो'** कर्मबन्धन से मुक्त होना। इस स्वरूप को समझकर उस ओर प्रवृत्त होना इसी में तत्त्वज्ञान की सार्थकता है। यही जैनदर्शनों में तत्त्व चिंतन है।[२८]

सन्दर्भ-स्थल :—

१ (क) बृहद्नयचक्र—४

तत्तं तह परमट्ठं दव्व सहावं तहेव परमपरं।
ध्येयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुँति अभिहाणा॥

—तत्त्व, परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, पर, अपर, ध्येय, शुद्ध, परम ये सभी शब्द एकार्थक अर्थात् पर्यायवाची हैं।

(ख) देखिए—जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण—लेखक देवेन्द्र मुनि शास्त्री।

२ पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध श्लोक—८

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।

३ 'सत् दव्वं वा'—भगवती ८।९

४ **नवसब्भाव पयत्था पण्णत्ते, तं जहा—जीवा अजीवा, पुण्णं, पावो, आसवो, संवरो, णिज्जरा, बंधो, मोक्खो।**

—स्थानांग ९।६६५

५ (क) स्थानांग ५-३-५३—**गुणओ उवओगगुणे।**

(ख) भगवती १३-४-४८०—**उवओग लक्खणेगा जीवे।**

(ग) उत्तराध्ययन २८-१०—**जीवो उवओगलक्खणो।**

(घ) तत्त्वार्थ० २-८—**उपयोगो लक्षणम्।**

६ स्थानांग २/१/५७

७ उत्त० २८/७—**धम्मो अधम्मो आगासो कालो पुग्गल जंतवो।**
एस लोगोत्ति पन्नतो जिणेहि वरदंसिहि॥

८ उत्त० २८/९—**गइ लक्खणे उ धम्मो अधम्मो ठाण लक्खणे।**

९ (क) तत्त्वार्थ सूत्र ५/९८—**आकाशस्यावगाहः**

(ख) उत्त० २८/९—**भायणं सव्वदव्वाणं नहं ओगाहलक्खणं।**

१० **तत्त्वार्थसूत्र** ५/२३—

(क) **स्पर्श रसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः**

(ख) हरिवंश पुराण ७/३६—**वर्णगन्धरसस्पर्शैः—पूरणं गलनं च यत्।**
कुर्वन्ति स्कन्धवत् तस्मात् पुद्गलाः परमाणवः॥

११ (क) न्यायकोष, पृ० ५०२—**पूरणाद् गलनाद् इति पुद्गलाः।**

(ख) तत्त्वार्थवृत्ति ५/१—**पूरणाद् गलनाच्च पुद्गलाः।**

(ग) शब्दकल्पद्रुमकोष—**पूरणात् पुद् गलयतीति गलः।**

(घ) तत्त्वार्थराजवार्तिक—**५/१/२४—पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः।**

१२ सर्वार्थसिद्धि टीका—सूत्र—५/२५

अन्तादि अन्तमज्झं अन्ततेणेव इन्दिएगेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणु विजानाहि॥

१३ भगवती ८/१०/३६१—

जीवेणं! पोग्गली पोग्गले? जीवे पोग्गलीवि, पोग्गलेवि।

१४ **'शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य।'**—तत्त्वार्थ—६/३४

१५ ठाणांगसूत्र—ठा० ९, उ०—३

णवविहे पुण्णे पं० तं० अन्नपुण्णे, पाणपुण्णे वत्थपुणे, लेणपुण्णे, सयनपुण्णे, मनपुण्णे, वयपुण्णे, कायपुण्णे नम्मोक्कारपुण्णे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६ ठाणांग—१/४८

१७ (क) योग प्रणालिकयात्मानः कर्म आस्रवतीतियोग आस्रवः। —सर्वार्थसिद्धि ६/२

(ख) आस्रवति प्रविशति कर्म येन स प्राणातिपातादिरूपः आस्रवः कर्मोपादानकारणम्।

—सूत्रकृतांग शीला० वृत्ति—२।५-१७, पृ० १२८

(ग) आवश्यक हरिभद्रीयावृत्ति मल० हेम० हि० पृ० ८४

(घ) अध्यात्मसार—१८।१३१

१८ (क) तत्त्वार्थसूत्र—६।१—आस्रवनिरोधः संवरः।

(ख) योगशास्त्र—७६, पृ० ४ —सर्वेषामास्रवाणां तु निरोधः संवरः स्मृतः।

१६ (क) योगशास्त्र—७६-८०

"स पुनर्भिद्यते द्वेधा द्रव्य भावविभेदतः।
यः कर्म पुद्गलादानच्छेदः स द्रव्यसंवरः।
भवहेतुक्रियात्यागः स पुनर्भावसंवरः।"

(ख) स्थानांग १।१४ की टीका

(ग) सप्ततत्त्वप्रकरण —हेमचन्द्र सूरि ११२

(घ) तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि ६।१

(ङ) द्रव्यसंग्रह २।३४

(च) पंचास्तिकाय—२।१४२ अमृतचन्द्र वृत्ति

(छ) पंचास्तिकाय—२।१४२ जयसेन वृत्ति

(ज) देवेन्द्र मुनि शास्त्री—जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण, पृ० २०३

२० (क) तत्त्वार्थ सूत्र—६/१६-२०

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेषा बाह्य तपः।

प्रायश्चित्तविनियवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।

(ख) उत्तराध्ययन—२८/३४, उत्तराध्ययन—३०/७

२१ (क)—तत्वार्थ०—८।४—**प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः।**

(ख)—षड्दर्शनसमुच्चय—पृ०२७७

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्च चतुर्धा।

२२ यशोविजय टीका—कर्म प्रकृति—पृ०२, गा० १

ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायरूपम्।

२३ तत्वार्थ० १०।३—**कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।**

२४ उमास्वाति—तत्वार्थसूत्र १।२—**तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।**

२५ आचारांग—५।५।१६६—**जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।**

२६ तत्त्वार्थ सूत्र—**१/६**

२७ (क) न्याय सूत्र १/१/२ पर भाष्य

(ख) वैशेषिक सूत्र ५/२/१८

(ग) तद्भावे संयोगाभावोऽ प्रादुर्भावश्च मोक्षः।

(घ) न्यायवार्तिक—**आत्यन्तिको दुःखाभावः मोक्षः।**

(ङ) सभाष्य न्यायसूत्र—७/७/२२—**तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।**

२८ विशेष परिचय के लिए देखें—जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण—देवेन्द्र मुनिजी का ग्रन्थ।

卐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ĀPAḤ : Divine and Purifying Substance

Dr. J. R. Joshi, M. A., Ph. D.
Deccan College, Poona.

Four entire hymns of the *ṚV* (Ṛgveda) and many stray *ṛks* celebrate the divine character of *Āpaḥ*,[1] but we can hardly speak of their possessing any mythological personality as such. The element, water, is nearly always plainly recognizable behind them. The waters are deified also in the *Avesta* and are invoked as *Apo*. In the *Avesta*, one also comes across the singular *āfs*, which word means 'water' as well as 'a river'[2]. In the *ṚV*, the personification of *Āpaḥ* is very slight, perhaps being in no way greater than that of *Pṛthivī* (earth).

In the *Naighaṇṭuka*,[3] the water is reckoned as terrestrial only. But, according to **Keith**,[4] in some of the cases, at any rate, it is clear that the celestial waters are meant. There is also the view[5] that the celestial waters were probably looked upon as an ether-like medium on which the luminaries made their fixed journeys along the Zodiac (*ṛta)*, and that the blocking of them by Vṛtra was supposed to prevent the rise and movements of these luminaries, thus causing long darkness. It is further suggested[6] that water is a subtle and complex concept, the basis and source of various facts of thoughts, ideas and notions of the Vedic culture and is closely associated with every problem in the Vedas. According to **Barnett**,[7] water to the ancient Hindu represented life, animal and vegetable, fertility, health, generative power.

In several cosmogonic accounts, *Āpaḥ*, the waters, hold a prominent place as the female principle. It has been pointed out by **Teape**[8] that the primeval waters, which are here represented are regarded by these ancient philosophers as the waters we now behold still with us and still connected, and thus yet one flood, although in the great masses of the clouds and the ocean and in the lesser volumes of lakes and in the runlets of the streams they are sub-divided, albeit momentarily ; for these allocates were observed to be perpetually passing into and out of each other. For these philosophers, **Teape** further adds, with this unity of the waters ever in their mind, the waters came to be regarded as the standard image of the One. They were regarded as the primordial substance or substratum and in almost all later cosmogonic versions the 'starting point is either *Prajāpati* desiring offspring and creating, or else the Primordial waters, on which floated *Hiraṇyagarbha*, the cosmic golden egg, whence is produced the spirit that desires and created the universe'. *ṚV* X.82.5-6 clearly shows that the waters were believed to have existed even before *Viśvakarmam*. The *TS*[9] also supports this view. The *Vājasaneyi Saṁhitā*,[10] on the other hand, says that *Soma* was produced from the waters by *Prajāpati* at the beginning of creation. Speaking about the cosmogonic speculations in the *ṚV* and referring to the verses mentioned above, the author of *Vedic India*[11] observes : "The waters, it is said there, received the first germ containing all the gods.........who does not see how easily this germ could become the World-Egg... floating for ages un-numbered......on the primeval waters of Chaos, until the *Brahma*...sprang out as *Brahmā*...?" In this connection, it is also remarked[12] : "The disturbances of the atoms of the etherial matter are responsible for transmitting heat and light which are indispensable for the existence of the worlds. *ṚV* X.72.6-7 says that the worlds and the Sun (who is source of heat, light and energy) that had remained unmanifest in the primeval ocean were produced when

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org